क्रांतिधर्मी साहित्य - युग साहित्य - इक्कीसवीं सदी का मार्गदर्शक साहित्य

क्रान्तिधर्मी साहित्य-युग साहित्य नाम से विख्यात यह पुस्तकमाला युगद्रष्टा-युगसृजेता प्रज्ञापुरुष पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा १९८९-९० में महाप्रयाण के एक वर्ष पूर्व की अवधि में एक ही प्रवाह में लिखी गयी है। प्रायः २० छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में प्रस्तुत इस साहित्य के विषय में स्वयं हमारे आराध्य प.पू. गुरुदेव पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जी का कहना था-"हमारे ये विचार, क्रान्ति के बीज हैं। ये थोड़े भी दुनियाँ में फैल गए, तो अगले दिनों धमाका कर देंगे। सारे विश्व का नक्शा बदल देंगे।....मेरे अभी तक के सारे साहित्य का सार हैं।.... सारे जीवन का लेखा-जोखा हैं।.... जीवन और चिंतन को बदलने के सूत्र हैं इनमें।.... हमारे उत्तराधिकारियों के लिए वसीयत हैं।.... अभी तक का साहित्य पढ़ पाओ या न पढ़ पाओ, इसे जरूर पढ़ना। इन्हें समझे बिना भगवान के इस मिशन को न तो तुम समझ सकते हो, न ही किसी को समझा सकते हो।.... प्रत्येक कार्यकर्त्ता को नियमित रूप से इसे पढ़ना और जीवन में उतारना युग-निर्माण के लिए जरूरी है। तभी अगले चरण में वे प्रवेश कर सकेंगे।.... यह इस युग की गीता है। एक बार पढ़ने से न समझ आए तो सौ बार पढ़ना और सौ लोगों को पढ़ाना। उनसे भी कहना कि आगे वे १०० लोगों को पढ़ाएँ। हम लिखें तो असर न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे अर्जुन का मोह गीता से भंग हुआ था, वैसे ही तुम्हारा मोह इस युग-गीता से भंग होगा।.... मेरे जीवन भर का साहित्य इस शरीर के वजन से भी ज्यादा भारी है। यदि मेरे जीवन भर के साहित्य को तराजू के एक पलड़े पर रखें और क्रांतिधर्मी साहित्य को दूसरे पलड़े पर, तो इनका वजन ज्यादा होगा।.... महाकाल ने स्वयं मेरी उँगलियाँ पकड़कर ये साहित्य लिखवाया है।.... इन्हें लागत मूल्य पर छपवाकर प्रचारित-प्रसारित (शब्दशः-अक्षरशः) करने की सभी को छूट है, कोई कापीराइट नहीं है।....मेरे ज्ञान शरीर को मेरे क्रान्तिधर्मी साहित्य के रूप में जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास करें।".....

परिवर्तन के महान क्षण

लेखक
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

परिवर्तन के महान क्षण

बीसवीं सदी का अंत आते-आते समय सचमुच बदल गया है। कभी संवेदनाएँ इतनी समर्थता प्रकट करती थीं कि मिट्टी के द्रोणाचार्य एकलव्य को धनुष विद्या में प्रवीण-पारंगत कर दिया करते थे। मीरा के कृष्ण उसके बुलाते ही साथ नृत्य करने के लिए आ पहुँचते थे। गान्धारी ने पतिव्रत भावना से प्रेरित होकर आँखों में पट्टी बाँध ली थी और आँखों में इतना प्रभाव भर लिया था कि दृष्टिपात करते ही दुर्योधन का शरीर अष्ट-धातु का हो गया था। तब शाप-वरदान भी शस्त्र प्रहारों और बहुमूल्य उपहारों जैसा काम करते थे। वह भाव-संवेदनाओं का चमत्कार था। उसे एक सच्चाई के रूप में देखा और हर कसौटी पर सही पाया जाता था।

अब भौतिक जगत ही सब कुछ रह गया है। आत्मा तिरोहित हो गई। शरीर और विलास-वैभव ही सब कुछ बनकर रह गये हैं। यह प्रत्यक्षवाद है। जो बाजीगरों की तरह हाथों में देखा और दिखाया जा सके वही सच और जिसके लिए गहराई में उतरना पड़े, परिणाम के लिए प्रतीक्षा करनी पड़े, वह झूठ। आत्मा दिखाई नहीं देती। परमात्मा को भी अमुक शरीर धारण किये, अमुक स्थान पर बैठा हुआ और अमुक हलचलें करते नहीं देखा जाता इसलिए उन दोनों की ही मान्यता समाप्त कर दी गई।

भौतिक विज्ञान चूँकि प्रत्यक्ष पर अवलम्बित है। उतने को ही सच मानता है जो प्रत्यक्ष देखा जाता है। चेतना और श्रद्धा में कभी शक्ति की मान्यता रही होगी, पर वह अब इसलिए अविश्वस्त हो गई कि उन्हें बटन दबाते ही बिजली जल जाने या पंखा चलने लगने की तरह प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। जो प्रत्यक्ष नहीं वह अमान्य, भौतिक विज्ञान और दर्शन की यह कसौटी है। इस आधार पर परिवर्तन का लाभ तो यह हुआ कि अन्ध-विश्वास जैसी मूढ़-मान्यताओं के लिए गुंजायश नहीं रही और हानि यह हुई कि नीतिमत्ता, आदर्शवादिता, धर्म-धारणाओं को भी अस्वीकार कर दिया गया। इसलिए मानवी गरिमा के अनुरूप अनुशासन भी लगभग समाप्त होने जा रहा है।

नई मान्यता के अनुसार मनुष्य एक चलता-फिरता पौधा मान लिया गया। अधिक से अधिक उसे वार्तालाप कर सकने की विशेषता वाला पशु माना जाने लगा। प्राणीवध में जिस निर्दयता और निष्ठुरता का आरोपण कर लोग अनुचित और अधार्मिक माना करते थे, वह अब असमंजस का विषय नहीं रह सकेगा, ऐसा दीखता है। कद्दू-बैंगन की तरह किसी भी पशु-पक्षी को माँसाहार के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। दूसरे की पीड़ा जब हमें स्वयं को अनुभव नहीं होती और सामिष आहार में अधिक प्रोटीन होने और अपने शरीर को लाभ मिलने की बात प्रत्यक्षवादी कहने लगें तो कोई प्राणीवध को इसलिए क्यों अस्वीकार करे कि उसके कारण नीति का अनुशासन बिगड़ता है तथा भावनाएँ विचलित होती हैं। ठीक यही बात अन्य मानवी मर्यादाओं के सम्बन्ध में भी हैं। अपराधों के लिए द्वार इसीलिए खुला कि उसमें मात्र दूसरों की हानि होती है। अपने को तो तत्काल लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है, अन्य विचारों में भी पशु-प्रवृत्तियों को अपनाये जाने के संबंध में जो तर्क दिये गये और प्रतिपादन प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें देखते हुए यौन सदाचार के लिए भी किसी पर कोई दबाव नहीं पड़ता। जब इस संबंध में पशु सर्वथा स्वतंत्र हैं तो मनुष्य के लिए ही क्यों इस संदर्भ में प्रतिबंध होना चाहिए। जीव जगत में जब धर्म, कर्त्तव्य, दायित्व जैसी कोई मान्यता नहीं तो फिर मनुष्य ही उन जंजालों में अपने को क्यों बाँधे ? जब बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है, जब बड़ी चिड़िया को छोटी चिड़ियों पर आक्रमण करने में कोई हिचक नहीं होती, जब चीते हिरन स्तर के कमजोरों को दबोच लेते हैं तो फिर समर्थ मनुष्य ही अपने असमर्थ जनों का शोषण करने में क्यों चूके ?

प्रत्यक्षवाद ने, भौतिक विज्ञान ने सुविधा-संवर्धन के लिए कितने ही नये-नये आधार दिये हैं, तो उसकी उपयोगिता और यथार्थता पर क्या किसी को संदेह करना चाहिए। यदि आत्मा, परमात्मा, कर्म, कर्त्तव्य, पुण्य, परमार्थ जैसी मान्यताओं के आधार पर कोई लाभ हाथों-हाथ नहीं मिलता तो फिर व्यर्थ ही उन बंधनों को क्यों माना जाय, जिनके कारण अपने को तो तात्कालिक घाटे में ही रहना पड़ता है। समर्थों को इसके कारण संत्रस्त और शोषण का शिकार बनना पड़ता है।

विज्ञान और प्रत्यक्षवाद ने क्या सचमुच हमें सुखी बनाया है ?

समय का बदलाव, वैज्ञानिक उपलब्धियों तक तर्क के आधार पर प्रदर्शन करने के रूप में जब लाभदायक प्रतीत होता है तो उसके स्थान पर तप, संयम, परमार्थ जैसी उन मान्यताओं को क्यों स्वीकार कर लिया जाय, जो आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता की दृष्टि से कितनी ही सराही क्यों न जाती हो पर तात्कालिक लाभ की कसौटी पर उनके कारण घाटे में ही रहना पड़ता है।

नये समय के नये तर्क अपराधियों स्वेच्छाचारियों से लेकर हवा के साथ बहने वाले मनीषियों तक को समान रूप से अनुकूल पड़ते हैं और मान्यता के रूप में अंगीकार करने में भी सुविधाजनक प्रतीत होते हैं तो हर कोई उसी को स्वीकार क्यों न करे ? उसी दिशा में क्यों न चलें ? मनीषी नीत्से ने दृढ़तापूर्वक घोषणा की है कि "तर्क के इस युग में पुरानी मान्यताओं पर आधारित ईश्वर मर चुका। अब उसे इतना गहरा दफना दिया गया है कि भविष्य में कभी उसके जीवित होने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।" धर्म के सम्बन्ध में भी प्रत्यक्षवादी बौद्धिक बहुमत ने यही कहा है कि वह अफीम की गोली भर है, जो पिछड़ों को त्रास सहते रहने और विपन्नता के विरुद्ध मुँह न खोलने के लिए बाधित करता है, साथ ही वह अनाचारियों को निर्भय बनाता है ताकि लोक में अपनी चतुरता और समर्थता के बल पर वे उन कार्यों को करते रहें, जिन्हें अन्यान्य कहा जाता है। परलोक का प्रश्न यदि आड़े आता हो तो वहाँ से बच निकलना और भी सरल है। किसी देवी-देवता की पूजा-पत्री कर देने या धार्मिक कर्मकांड का सस्ता-सा आडंबर बना देने भर से पाप-कर्मों के दंड से सहज छुटकारा मिल जाता है। जब इतने सस्ते में तथाकथित पापों की प्रतिक्रिया से बचा जा सकता है तो रास्ता बिल्कुल साफ है। मौज से मनमानी करते रहा जा सकता है और उससे कोई कठोर प्रतिफल की आशंका हो तो पूजा-पाठ के सस्ते से खेल-खिलवाड़ करने से वह आशंका भी निरस्त हो सकती है।

समय का प्रवाह वैज्ञानिक प्रगति के साथ प्रत्यक्षवाद का समर्थक होता जा रहा है। सच तो यह है कि जो लोग धर्म और

अध्यात्म को चर्चा-प्रसंगों में मान्यता देते हैं, वे भी निजी जीवन में प्रायः वैसे ही आचरण करते देख जाते हैं जैसे कि अधर्मी और नास्तिक करते देखे जाते हैं। धर्मोपदेशक से लेकर धर्मध्वजियों के निजी जीवन का निरीक्षण-परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि अधिकांश लोग उस स्वार्थपरता को ही अपनाये रहते हैं जो अधार्मिकता की परिधि में आती है। आडंबर, पाखंड और प्रपंच एक प्रकार से प्रच्छन्न नास्तिकता ही है, अन्यथा जो आस्तिकता और धार्मिकता की महत्ता भी बखानते हैं, उन्हें स्वयं तो भीतर और बाहर से एक रस होना ही चाहिए था। जब उनकी स्थिति आडंबर भरी होती दीखती है, तो प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षवादी नास्तिकता ही नहीं, प्रच्छन्न धर्माडंबर भी लगभग उसी मान्यता को अपनाये हुए हैं। लोगों की आँखों में धूल झोंकने या उनसे अनुचित लाभ उठाने के लिए ही धर्म का ढकोसला गले से बाँधा जा रहा है। ईश्वर को भी वे न्यायकारी-सर्वव्यापी नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो धार्मिकता की वकालत करने वालों में से कोई भी परोक्ष रूप से अवांछनीयता अपनाये रहने के लिए तैयार नहीं होता। तथाकथित धार्मिक और खुलकर इंकार करने वाले नास्तिक लगभग एक ही स्तर के बन जाते हैं।

यह स्थिति भयानक है। वस्तुओं की जिस कमी को विज्ञान को पूरा किया है यदि वह हस्तगत न हुई होती तो पिछली पीढ़ियों की तरह सदा जीवन अपनाकर भी निर्वाह हँसी-खुशी के साथ चलता रह सकता था। ऋषियों, तपस्वियों, महामानवों, लोक सेवियों में से अधिकांश ने कठिनाइयों और अभाव वाला भौतिक जीवन जिया है, फिर भी उनकी भौतिक या आध्यात्मिक स्थिति खिन्न, विपन्न नहीं रही। सच तो यह है कि वे आज के तथाकथित सुखी समृद्ध लोगों की तुलना में कहीं अधिक सुख-शांति भरा प्रगतिशील जीवन जीते थे और हँसता-हँसाता ऐसा वातावरण बनाये रहते थे, जिसे सतयुग के रूप में जाना जाता था और जिसको पुनः प्राप्त करने के लिए हम सब तरसते हैं।

भौतिक विज्ञान के सुविधा-साधन बढ़ाने वाले पक्ष ने समर्थ जनों के लिए लाभ उठाने के अनेकों आधार उत्पन्न एवं उपस्थित किये हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं। बहिरंग की इसी स्तर की

चमक-दमक को देखकर अनुमान लगाता है कि विज्ञान ने अपने समय को बहुत सुविधा-सम्पन्न बनाया है। परन्तु दूसरी ओर तनिक-सी दृष्टि मोड़ते ही पर्दा उलट जाता है और दृश्य ठीक विपरीत दीखने लगता है। सुसंपन्न, समर्थ, चतुर लोग संख्या में बहुत कम हैं। मुश्किल से दस हजार के पीछे दस। विज्ञान द्वारा उत्पादित सुविधा-सामग्री में से अधिकांश उन्हीं के हाथों में सीमित होकर रह गयी है। उन्होंने जो बटोरा है वह भी कहीं आसमान से नहीं टपका वरन दुर्बल दीख पड़ने वाले भोले भावुकों को पिछड़े हुए समझकर उन्हीं के अधिकारों का अपहरण करके वह संपन्नता थोड़े लोगों के हाथों एकत्रित हुई है। जिसे विज्ञान की देन, युग का प्रभाव, प्रगति का युग आदि नामों से श्रेय दिया जाता है। इस एक पक्ष की बढ़ोत्तरी ने अधिकांश लोगों का बड़ी मात्रा में दोहन किस प्रकार किया है, इसे देखते हुए विवेकवानों को उस असमंजस में डूबना पड़ता है कि दृष्टिगोचर होने वाली प्रगति क्या वास्तविक प्रगति है ? इसके पीछे अधिकांश को पीड़ित, शोषित, अभावग्रस्त रखने वाला कुचक्र तो काम नहीं कर रहा है।

नीतिरहित भौतिकवाद से उपजी दुर्गति

ऊँचा महल खड़ा करने के लिए किसी दूसरी जगह गड्ढे बनाने पड़ते हैं। मिट्टी, पत्थर, चूना आदि जमीन को खोदकर ही निकाला जाता है। एक जगह टीला बनता है तो दूसरी जगह खाई बनती है। संसार में दरिद्रों, अशिक्षितों दुःखियों, पिछड़ों की विपुल संख्या देखते हुए विचार उठता है कि उत्पादित सम्पदा यदि सभी में बँट गई होती तो सभी लोग लगभग एक ही तरह का समान स्तर का जीवन जी रहे होते। अभाव कृत्रिम है। वह मात्र एक ही कारण उत्पन्न हुआ है कि कुछ लोगों ने अधिक बटोरने की विज्ञान एवं प्रत्यक्षवाद की विनिर्मित मान्यता के अनुरूप यह उचित समझा है कि नीति, धर्म, कर्त्तव्य, सदाशयता, शालीनता, समता, परमार्थ, परायणता जैसे उन अनुबंधों को मानने से इंकार कर दिया जाय जो पिछली पीढ़ियों में आस्तिकता और धार्मिकता के आधार पर आवश्यक माने जाते थे। अब उन्हें प्रत्यक्षवाद ने अमान्य ठहरा दिया, तो सामर्थ्यवानों को कोई किस आधार पर मर्यादा में रहने के लिए समझाये ? किस तर्क के आधार पर शालीनता और समता की नीति अपनाने के लिए बाधित करे। पशुओं को जब नीतिवान परोपकारी बनाने के लिए

बाधित नहीं किया जा सका, तो बंदर की औलाद बताये गये मनुष्य को यह किस आधार पर समझाया जा सके कि उसे उपार्जन तो करना चाहिए पर उसको उपभोग में ही समाप्त नहीं कर देना चाहिए। सदुपयोग की उन परम्पराओं को भी अपनाना चाहिए जो न्याय औचित्य, सद्भाव एवं बाँटकर खाने की नीति अपनाने की बात कहती है। यदि वह अध्यात्मवादी प्रचलन जीवित रहा होता तो प्रस्तुत भौतिकवादी प्रगति के आधार पर बढ़ते हुए साधनों का लाभ सभी को मिला होता। सभी सुखी एवं समुन्नत पाये जाते। न कोई अनीति बरतता और न किसी को उसे सहने के लिए विवश होना पड़ता।

विज्ञान ने जहाँ एक से एक अद्भुत चमत्कारी साधन उत्पन्न किये वहाँ दूसरे हाथ से उन्हें छीन भी लिया। कुछ समर्थ लोग जन्नत का मजा लूटते और शेष सभी दोषारोपण की सड़न में सड़ते हुए न पाये जाते। विज्ञान के साथ सद्ज्ञान का समावेश ही यदि रह सका होता। भौतिक और आत्मिक सिद्धांतों पर आधारित प्रगति सामने होती और उसका लाभ हर किसी को समान रूप से मिल सका होता। पर किया क्या जाय ? भौतिक विज्ञान जहाँ शक्ति और सुविधा प्रदान करता हो वहीं प्रत्यक्षवादी मान्यताएँ नीति, धर्म, संयम, स्नेह, कर्त्तव्य आदि को झुठला भी देता है। ऐसी दशा में उद्दंडता अपनाये हुए समर्थ का दैत्य-दानव बन जाना स्वाभाविक है। उनका बढ़ता वर्चस्व उन दुर्बलों का शोषण करेगा ही जिन्हें प्रगति ने बहुलता से पैदा करके समर्थों को उदार बनने एवं ऊँचा उठाने का श्रेय देने के लिए पैदा किया है। तथाकथित प्रगति ने इसी नीतिमत्ता का बोलबाला होते देखने की स्थिति पैदा कर दी है।

उदाहरण के लिए प्रगति के नाम पर हस्तगत हुई उपलब्धियों को चकाचौंध में नहीं उनकी वस्तुस्थिति में खुली आँखों से देखा जा सकता है। औद्योगीकरण के नाम पर बने कारखानों ने संसार भर में वायु प्रदूषण और जल प्रदूषण भर दिया है। अणु शक्ति की बढ़ोत्तरी ने विकिरण से वातावरण को इस कदर भर दिया है कि तीसरा युद्ध न हो तो भी भावी पीढ़ियों को अपंग स्तर की पैदा होना पड़ेगा। ऊर्जा के अत्यधिक उपयोग ने संसार का तापमान इतना बढ़ा दिया है कि हिम प्रदेश पिघल जाने पर समुद्रों में बाढ़ आने और ओजोन नाम से जानी जाने वाली पृथ्वी की कवच फट जाने पर ब्रह्माण्डीय किरणों

धरती की समृद्धि को भूनकर रख सकती हैं। रासायनिक खाद और कीटनाशक मिलकर पृथ्वी की उर्वरता को विषाक्तता में बदलकर रखे दे रहे हैं। खनिजों का उत्खनन जिस तेजी से हो रहा है, उसे देखते हुए लगता है कि कुछ ही दशाब्दियों में धातुओं का, खनिज तेलों का भण्डार समाप्त हो जायेगा। बढ़ते हुए कोलाहल से तो व्यक्ति और पगलाने लगेंगे। शिक्षा का उद्देश्य उदरपूर्ति भर रहेगा, उसका शालीनता के तत्त्वदर्शन से कोई वास्ता न रहेगा। आहार में समाविष्ट होती हुई स्वादिष्टता प्रकारांतर से रोग-विषाणुओं की तरह धराशायी बनाकर रहेगी। कामुक उत्तेजनाओं को जिस तेजी से बढ़ाया जा रहा है, उसके फलस्वरूप न मनुष्य में जीवनी शक्ति का भंडार बचेगा, न बौद्धिक प्रखरता और शील-सदाचार का कोई निशान बाकी रहेगा। पशु-पक्षियों और पेड़ों का जिस दर से कत्लेआम हो रहा है, उसे देखते हुए यह प्रकृति छूँछ होकर रहेगी। नीरसता, निष्ठुरता, नृशंसता, निकृष्टता के अतिरिक्त और कुछ पारस्परिक व्यवहार में कोई ऊँचाई शायद ही दीख पड़े। मूर्धन्यों का यह निष्कर्ष गलत नहीं है कि मनुष्य सामूहिक आत्म-हत्या की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है। नशेबाजी जैसी दुष्प्रवृत्तियों की बढ़ोत्तरी देखते हुए कथन कुछ असंभव नहीं लगता। स्नेह सौजन्य और सहयोग के अभाव में मनुष्य पागल कुत्तों की तरह एक-दूसरे पर आक्रमण करने के अतिरिक्त और कुछ कदाचित ही कर सके।

मनुष्य जाति आज जिस दिशा में चल पड़ी है, उससे उसकी महत्ता ही नहीं, सत्ता का भी समापन होते दीखता है। संचित बारूद के ढेर में यदि कोई पागल एक माचिस की तीली फेंक दे, तो समझना चाहिए कि यह अपना स्वर्गोपम धरालोक धूलि बनकर आकाश में न छितरा जाय। विज्ञान की बढ़ोत्तरी और ज्ञान की घटोत्तरी ऐसी ही विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में बहुत विलंब भी नहीं लगने देंगी। ऐसा दीखता है।

भौतिकवाद की उलटबाँसियाँ

जब विष को अमृत की मान्यता मिल जाए और उसे प्राप्त करने के लिए हर किसी को लालायित पाया जाए, तब परिवर्तन अति कठिन पड़ता है। हानि को लाभ समझा जाने लगे और लाभ को

उल्टी समझ को सीधी करना बहुत कठिन पड़ता है। प्राचीन काल में कम से कम मान्यताएँ तो सही थीं। उठते कदम राजमार्ग को अपनाते थे पर अब तो स्थिति ही कुछ दूसरी बन गई है। भटका हुआ अपने आपको सही मानता और सबको अपने साथ ले चलने का आग्रह करता है। तात्कालिक लाभ सब कुछ बन गया है। उसका परिणाम कल या परसों क्या हो सकता है, यह सोचने की किसी को फुरसत नहीं। कुकर्म करने में भी समय, श्रम, साहस और पुरुषार्थ नियोजित करना पड़ता है। बिना हिम्मत के तो चोरी-डकैती करते भी नहीं बन पड़ता। खतरा तो व्यभिचार-अनाचार के लिए उद्यत होने वालों के सामने भी रहता है। उस अनाचार में लगे हुए व्यक्ति भी कम जोखिम नहीं उठाते फिर भी न जाने क्यों मान्यता यह बन गई है कि सच्चाई का, अच्छाई का रास्ता अपनाने वाले घाटे में रहते हैं। फायदा सिर्फ अनाचारियों को होता है। इस मान्यता के पक्ष में उन्हें अपने इर्द-गिर्द ही ऐसे लोग मिल जाते हैं जो कुकर्म करके हाथों-हाथ नफा कमा लेते हैं। इतने दूर तक सोचने की उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती कि अनुचित रीति से उठाया हुआ लाभ किस प्रकार दुर्व्यसनों में फँसता, अपयश का भारी वजन लादता और अन्त में ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न करता है जिससे न केवल अपनों को वरन साथियों समेत समूचे समुदाय को पतन एवं पराभव के गर्त में गिरना पड़ता है। लगता है कि मृगतृष्णा में भटकने वाले, कस्तूरी की तलाश में दौड़ लगाते रहने वाले हिरन खीज, थकान, निराशा और असमंजस के कारण बेमौत मर रहे हैं। अवांछनीयता अपनाकर कमाई हुई सफलता तत्काल न सही थोड़ी ही देर में थोड़ा ही आगे बढ़कर ऐसे संकट सामने ला खड़े करती है, जिनसे उबरना कठिन हो जाता है। पर उनके लिए क्या कहा और क्या किया जाय जिनकी मंद दृष्टि मात्र कुछ ही इंच-फुट तक का देख सकने में साथ देती है। आगे चलकर कितने बड़े खाई-खंदक हैं। जिनमें एक बार गिर पड़ने पर कोई सहायता के लिए भी आगे नहीं आता है और जिस-तिस को कोसते हुए भयावाह अंत का सामना करना पड़ता है। इन दिनों ऐसी ही कुछ गजब की गाज गिरी है। विज्ञान के आधार पर मिली, नीतिमत्ता से सर्वथा विलग सफलताओं ने कुछ ऐसा व्यामोह उत्पन्न कर दिया है कि लोग कुमार्ग पर चलते और दुर्गति के भाजन बनते देखे जाते हैं।

प्रचलन यही बना रहा तो उसका दुष्परिणाम व्यक्ति और समाज के संमुख इस स्तर की विभीषिका बनकर सामने आयेगा, जिससे बाद में उबर सकना शायद संभव ही न रहेगा। तथाकथित प्रगति अवगति से भी अधिक महँगी पड़ेगी।

इन दिनों हर क्षेत्र में प्रवेश किये हुए समस्याओं, अवांछनीयताओं, विडंबनाओं के लिए दोष किसे दिया जाय ? और उसका समाधान कहाँ ढूँढ़ा जाय ? इस संदर्भ में मोटे तौर से एक ही बात कही जा सकती है कि प्रत्यक्षवाद की पृष्ठभूमि पर जन्मे भौतिकवाद ने लगभग सभी नैतिक मूल्यों की उपयोगिता आवश्यकता मानने से इंकार कर दिया है। उसकी प्रत्यक्षवादिता को प्रामाणिकता का एक स्वरूप मानने वाले जन-समुदाय ने हर प्रसंग में यही नीति अपना ली है कि प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ माना जाय। जिसमें हाथों-हाथ भौतिक लाभ मिलने की बात बनती हो, उसी को स्वीकारा जाय। इस कसौटी पर नीति, सदाचार, उदारता, संयम जैसे उच्च आदर्शों के लिए कोई जगह नहीं रह जाती है। इस प्रत्यक्षवादी तत्त्वदर्शन ने ही मनुष्य को स्वेच्छाचारी बनने के लिए प्रोत्साहित किया है। उन परंपराओं को छिन्न-भिन्न करके रख दिया है, जो मानवी गरिमा के अनुरूप मर्यादाओं के परिपालन एवं वर्जनाओं का परित्याग करने के लिए दबाब डालती और सहायता करती थीं।

असमंजस की स्थिति और समाधान

सुविधाएँ सुहावनी लग सकती हैं। उनकी समय-समय पर आवश्यकता भी हो सकती है। पर यह तथ्य भी ध्यान में रखने, गाँठ में बाँध लेने योग्य है कि पारस्परिक श्रद्धा, सद्भावना, सहकारिता, नीति-निष्ठा अपनाये बिना पारस्परिक सद्भाव एवं स्नेह संवेदना नहीं उभर सकती और इसके बिना उस आचरण को पनपने की कोई संभावना नहीं बनती, जिसमें मनुष्य अपना ही नहीं दूसरों का भी हित सोचता है। न्याय को प्रश्रय देता है और अनीति के आधार पर उद्भुत सुविधाओं को स्वीकारने से इंकार कर देता है। सर्वजनीन सुख, शान्ति के लिए इससे कम से काम चलता नहीं और इससे

यह संसार, विश्व ब्रह्माण्ड जड़ और चेतन दोनों के ही सम्मिश्रण को बना है। यहाँ प्रकृति और प्राण का ही सामंजस्य है। चेतन को परिष्कृत करने पर जो उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं, उन्हें ऋषि युग में, सतयुग में लंबी अवधि तक जाना परखा जा चुका है। इस देश की गौरव-गरिमा का इतिहास उसी वर्चस्व से ऐतिहासिक बना और प्रख्यात रहा है। अब बीसवीं शताब्दी में प्रधानतया भौतिकता की सत्ता को प्रमुखता मिली है। इस अवधि में दो विश्व युद्ध और १०० से अधिक क्षेत्रीय युद्ध हो चुके हैं। भौतिकवादी ललक की यह संरचना है, जिसके कारण अपार धन-जन की हानि हुई है। चिंतन, चरित्र और व्यवहार सभी कुछ लड़खड़ा गया है। प्रगति युग के अगले चरण कितने भयावह हो सकते हैं, इसकी कल्पनामात्र से दिल दहल जाता है।

यह विचारने के लिए नये सिरे से बाधित होना पड़ रहा है कि भौतिक मान्यताओं के आधार पर संसार को क्या इसी गति से चलने दिया जाना है या अतीत में बरते गये उन सिद्धान्तों को फिर से अपनाया जाना है, जिनके आधार पर मनुष्यों में देवत्व और धरती पर स्वर्ग जैसा वातावरण बना रहा।

इस असमंजस में एक और नई कठिनाई सामने है कि पुरातन की, साक्षी को ध्यान में रखकर यदि जीवनचर्या और लोक व्यवहार को अध्यात्म तत्त्वज्ञान के स्तर पर विनिर्मित करने की बात सोची जाय तो यहाँ भी भारी विडंबना सामने खड़ी होती है। प्रचलित अध्यात्म सिद्धान्तों और प्रचलनों में भी विकृतियों का इतना अधिक अवांछनीयता का अनुपात घुस पड़ा है कि कसौटी पर कसते ही वह भी खोटे सिक्के की तरह अप्रामाणिक ही सिद्ध होते हैं। लाखों संत-साधु, लाखों भजनानंदी, लाखों कर्मकांडी, पूजा व्यवसायी जिस स्थिति में रह रहे हैं, उनके स्तर को उलट-पुलट कर जाँचने से प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में विडंबना के अतिरिक्त और कुछ शेष बच नहीं रहा है। किसी जमाने में थोड़े-से संत न केवल भारत को वरन् समस्त विश्वसुधा को हर दृष्टि से समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाये रखने में समर्थ हुए थे, पर अब तो उनकी संख्या हजारों-लाखों गुनी हो गई है। इतने पर भी विश्वकल्याण की भारतभूमि की गरिमा को

गया-गुजरा बना बैठे हैं कि सहज विश्वास नहीं होता कि इस प्रयोजन में भी कुछ उत्कृष्टता एवं विशिष्टता शेष रह गई है।

कुछ दिन पूर्व गाँधी, बुद्ध जैसी कुछ ही प्रतिभाएँ प्रकट हुई थीं और अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व से संसार भर में आस्था, उत्साह और उल्लास की एक नई लहर चला सकने में समर्थ हुई थी; पर अब तो उनकी गणना आश्चर्यजनक गति से बढ़ जाने पर भी वातावरण को परिष्कृत करना तो दूर अपने आपको भी प्रामाणिक एवं प्रतिभावान बना पाना दीख नहीं पड़ता। इस निरीक्षण-परीक्षण से प्रतीत होता है कि जैसे लांछन भौतिकवाद पर लगाये जाते हैं, उससे भी अधिक प्रस्तुत अध्यात्मवाद पर लगाये जा सकते हैं। लगता है दोनों ही क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग की विद्रूपता ने आधिपत्य जमा लिया है। धर्म के नाम पर जितनी विडम्बनाएँ चलती हैं, उन्हें देखते हुए उसे भी अपनाए योग्य मानने के लिए मन नहीं करता।

दोनों ही रास्ते अनुपयुक्त दीखने पर प्रश्न यह उठता है कि इनके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प भी है क्या ? आस्तिकता और नास्तिकता के, श्रेष्ठ और निकृष्टता के बीच क्या कोई मध्य मार्ग भी है। वहाँ भी न करने के अतिरिक्त भी कुछ सूझता नहीं। फिर क्या चुना जाय जबकि जीवन और मरण दोनों ही अनुपयुक्त अविश्वस्त दीखते हैं।

इस असमंजस के बीच एक हल उभरता है कि भौतिक विज्ञान को अध्यात्म तत्त्व ज्ञान के साथ जुड़ना चाहिए था और अध्यात्मवाद का स्वरूप ऐसा होना चाहिए था जिसे प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर भी खरा सिद्ध किया जा सके।

भौतिकवादी मान्यताओं का अपना आकर्षण ही इतना बड़ा है कि उसने 99 प्रतिशत क्षेत्र को अपनी चपेट में ले लिया है। उसकी अच्छाई-बुराई भी आँखों के सामने है। मांत्र अध्यात्म ही ऐसा है जो रहस्य बनकर रह रहा है। उसे नकारते इसलिए नहीं बनता क्योंकि शास्त्रकारों आप्तजनों और ऋषिकल्प व्यक्तियों के आधार पर जो उत्कृष्टतावादी निष्कर्ष निकलता है, उसे अमान्य ठहराने का कोई कारण नहीं। उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। योगी अरविंद, महर्षि रमण, समर्थ रामदास, रामकृष्ण परमहंस आदि प्रतिभाएँ उस पक्ष को अपनी तपस्या के बल पर भी सही सिद्ध करती रही हैं।

रहस्य क्या है ? यह खोजने की बात सामने आने पर भूतकाल की साक्षी और वर्तमान की दूरदर्शी विवेचना यही बताती है कि जन कल्याण अध्यात्म पर ही अवलंबित हो सकता है। खोट इतना भर है कि आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान और प्रयोग परीक्षण में कहीं कुछ ऐसा अनुपयुक्त अड़ गया है जिसके कारण सूर्योदय रहते हुए भी पूर्णग्रहण जैसा कुछ लग जाने के कारण दिन होते हुए भी अंधेरा छाने लगता है। अनुपयुक्त प्रयोग में तो विशिष्टता भी निकृष्टता में बदल सकती है। जिस प्रकार आदर्शों के अनुशासन को अस्वीकृत कर देने के कारण भौतिक विज्ञान की उपयोगिता और यथार्थता विनाशकारी परिणाम उत्पन्न कर रही है, संभवतः अध्यात्म ने भी उलटबाँसी अपनायी है और असली के स्थान पर नकली के आ विराजने पर उसकी भी प्रामाणिकता एवं उपयोगिता खतरे में पड़ गई है।

लेखक का निजी अनुभव

सत्य और तथ्य को कैसे जाना, परखा जाय ? इसके लिए भौतिक क्षेत्र को आदर्शों के साथ जोड़ने पर क्या परिणाम निकल सकता है, इसकी खोजबीन करने का काम दूसरों के जिम्मे छोड़कर इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी अभिरुचि, जानकारी एवं रुझान के अनुरूप यही उपयुक्त समझा कि वह अपने छोटे-से जीवन और थोड़े-से समय, साधन का उपयोग इस प्रयोजन विशेष के लिए कर गुजरे कि जब शरीर से प्राण श्रेष्ठ हैं तो फिर भौतिक-संपदा की तुलना में प्राण चेतना को वरिष्ठता का गौरव क्यों न प्राप्त होना चाहिए ? अगले दिनों सतयुग की वापसी के लिए नये सिरे से नया प्रयत्न क्यों न होना चाहिए ? खोज के लिए प्रयोगशाला चाहिए, साधन और उपकरण भी। यह सभी अपने ही काय-कलेवर में उपलब्ध किये जाने चाहिए और देखा जाना चाहिए कि परिष्कृत अध्यात्म व्यक्ति संसार के लिए उपयोगी हो सकता है क्या ?

भौतिक विज्ञानियों में से अनेकों ने अपनी अभीष्ट खोज के लिए प्रायः पूरी जिंदगी लगा दी और लक्ष्य तक पहुँचने में उतावली नहीं बरती, तो परिष्कृत अध्यात्म का स्वरूप खोजने और परिणामों की जाँच-पड़ताल करने के लिए एक व्यक्ति की एक जिंदगी यदि पूरी तरह लग जाय तो उसे घाटे का सौदा नहीं कहा जा सकता।

इन पंक्तियों का लेखक अपनी जिंदगी के प्रायः अस्सी बरस पूरे करने जा रहा है। उसने उस पुरातन अध्यात्म को खोज निकालने के लिए अपने चिन्तन, समय, श्रम एवं पुरुषार्थ को मात्र एक केन्द्र पर केन्द्रित किया है कि यदि पुरातन काल का सतयुगी अध्यात्म सत्य है, यदि ऋषियों की उपलब्धियाँ सत्य हैं, तो उनका वास्तविक स्वरूप क्या रहा होगा और उसके प्रयोग से ऋद्धि-सिद्धि जैसे परिणामों का हस्तगत कर सकना क्यों कर संभव हुआ होगा ? अनुमान था कि कहीं कोई खोट घुस पड़ने पर ही शाश्वत सत्य को झुठलाये जाने का कोई अनर्थ मार्ग में न अड़ गया हो।

अध्ययन, अनुभव, प्रयोग और विशेषज्ञों की पूछताछ से पता चला है कि आत्मिकी का प्रथम पक्ष है—साधक का परिष्कृत व्यक्तित्व और दूसरा पक्ष है—साधना-उपासना स्तर का उपक्रम। जीवन साधना को स्वास्थ्य और कर्मकांडपरक उपचारों को श्रृंगार स्तर का कहा जा सकता है, पर इन दिनों किसी भटकाव ने लोगों को ऐसा कुछ बना दिया है कि जीवन साधना की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। मात्र पूजापरक कर्मकांडों के ही बलबूते उस सारी महत्ता को हस्तगत किया जा सकता है जिसको कि शास्त्रकारों ने अपने अनुभव में और आप्तजनों ने अपने जीवनक्रम में समाविष्ठ करके वस्तुस्थिति की यर्थाथता का पूरी तरह रहस्योद्घाटन किया है।

समस्त विश्व के विशेषतया मानव समुदाय के भाग्य और भविष्य का भला-बुरा निर्धारण करने वाले इस प्रसंग पर अत्यन्त गहराई तक शोध करने के लिए आकुल-व्याकुल उत्कंठा से द्रवित होकर किसी दिव्य मार्गदर्शक ने संकेत किया कि—"इस तथ्य को प्रारंभ से ही समझ लेना चाहिए।" अध्यात्म को अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि इस प्रयोजन में प्रवेश करने वाले का व्यक्तित्व उत्कृष्टता से सुसंपन्न हो। इसके पश्चात ही उपासनापरक कर्मकांडों की कुछ उपयोगी प्रतिक्रिया उपलब्ध होती है। यदि मनोभूमि और जीवनचर्या गंदगी से भरी हो तो समझना चाहिए कि मंत्र की, पूजा उपचार की प्रक्रिया प्रायः निरर्थक ही सिद्ध होगी। समय, श्रम और साधन सामग्री निरर्थक गँवाने के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगेगा। अध्यात्म दिव्य शक्ति के आधारभूत पुंजस्रोत हैं। विज्ञान तो सज्जा भर का प्रदर्शन करता है, उसमें

आकर्षण और प्रलोभन के द्वारा बलबुद्धि को फुसलाने के लिए खिलौने जैसी चमक-दमक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

इस संकेत से मार्गदर्शन मिला। विश्वास जमा। फिर भी भ्रांतियों के जाल-जंजाल से निकलने के लिए आवश्यक समझा गया कि क्यों न अपनी काया की प्रयोगशाला में तथ्य का निरीक्षण-परीक्षण करके देखा जाए ? इसमें हानि ही क्या है ? अपने प्रयोग यदि खरे उतरते हैं तो उससे श्रद्धा विश्वास की अभिवृद्धि ही होती है। यदि मिथ्या सिद्ध होते हैं तो हानि मात्र इतनी ही है कि जैसे असंख्य अधकचरी स्थिति में संदेह भरी स्थिति में रह रहे हैं, उन्हीं में एक की और वृद्धि हो जाएगी फिर विश्वास और साहसपूर्वक अपनी मान्यता बनाने या दूसरों से साहसपूर्वक कुछ कहने की स्थिति तो समाप्त हो जायगी।

मंत्र विज्ञान के संबंध में जितना कुछ पढ़ा, सुना और गुना था, उसके आधार पर प्रारंभिक दिनों में ही यह विश्वास जम गया था कि आदि शक्ति के नाम से जाने वाली गायत्री की श्रेष्ठता वरिष्ठता असंदिग्ध है। संचित संस्कार और संबद्ध वातावरण भी इसी की पुष्टि करते रहे। उपासना क्रम सरल भी लगा और उत्साहवर्धक भी। गाड़ी चली सो अपनी पटरी पर आगे बढ़ती और लुढ़कती ही चली गई। तब से अब तक न उसमें विराम लिया और न कोई अवरोध ही आड़े आया। अस्सी वर्ष की आयु होने तक वह मान्यता, भावना श्रद्धा आगे ही आगे बढ़ती चली आई है।

मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन यापन कैसे किया जा सकता है ? उसके साथ जुड़ी हुई मर्यादाओं का परिपूर्ण निर्वाह कैसे हो सकता है और वर्जनाओं से कैसे बचा जा सकता है ? यह समझ अंतराल की गहराई से निरंतर उठती रही और उसका परिपालन भी स्वभाव का अंग बन जाने पर बिना किसी कठिनाई के होता रहा। गुण, कर्म, स्वभाव, चिंतन, चरित्र, व्यवहार में जो तथ्य गहराई तक उतरकर परिपक्व हो जाते हैं, वे छोटे-मोटे आघातों से डगमगाते नहीं। देखा गया कि सघन संकल्प के साथ जुड़ी हुई व्रतशीलता अनायास ही निभती रहती है। सो सचमुच बिना किसी दाग-धब्बे के निभ भी गई।

ईश्वर के प्रति सुनिश्चित आत्मीयता की अनुभूति उपासना, जीवन में शालीनता की अविच्छिन्नता अर्थात् "साधना" तथा करुणा और उदारता से ओतप्रोत अंतराल में निरंतर निर्झर की तरह उद्‌भुत होती रहने वाली "आराधना", यही है वह त्रिवेणी जो मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है। उस संगम तक पहुँचने पर कल्मष कषायों, दोष-दुर्गुणों के प्रवेश कर सकने जितनी गुंजायश भी शेष नहीं रहती। त्रिपदा कही जाने वाली गायत्री, प्रज्ञा, मेघा और श्रद्धा बनकर इस स्तर तक आत्मसात हो गई कि लगने लगा कि सचमुच ही वैसा मनुष्य जीवन उपलब्ध हुआ है। जिसे सुर दुर्लभ कहा और देवत्व के अवतरण जैसे शब्दों से जिसका परिचय दिया जाता रहा है।

साधारण स्तर के नर वानर कोल्हू के बैल की तरह पिसते और पीसते रहकर जिंदगी के दिन गुजार देते हैं। पर जब भीतर से उत्कृष्टता का पक्षधर उल्लास उभरता है तो अंतराल में बीज रूप में विद्यमान दैवी क्षमताएँ, जागृत, सक्रिय होकर अपनी महत्ता का ऐसा परिचय देने लगती है जिसे अध्यात्म का वह चमत्कार कहा जा सकता है, जो भौतिक शक्तियों की तुलना में कहीं अधिक समर्थ है।

उपासना प्रकरण में श्रद्धा विश्वास की शक्ति ही प्रधान है। वही उस स्तर की बन्दूक है जिस पर किसी भी फैक्टरी में विनिर्मित कारतूस चलाये जा सकते हैं। उस दृष्टि से मात्र गायत्री मंत्र ही नहीं, साधक की आस्था के अनुरूप अन्यान्य मंत्र एवं उपासना विधान भी अपनी सामर्थ्य का वैसा ही परिचय दे सकते हैं। श्रद्धा और विश्वास के अभाव में उपेक्षापूर्वक अस्त-व्यस्त मन से कोई भी उपासना क्रम अपनाया जाय, असफलता ही हाथ लगेगी।

परीक्षण के लिए प्रयोगशाला की तथा उसके लिए आवश्यक यंत्र उपकरणों की जरूरत पड़ती है। इस संदर्भ में अच्छाई एक ही है कि मानव शरीर में विद्यमान चेतना ही उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती है, जो अत्यंत सशक्त प्रयोग परीक्षणों के लिए भौतिक विज्ञानियों को मूल्यवान यंत्र उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशाला को जुटाने पर संभव होते हैं।

इन दिनों विज्ञान के प्रतिपादन, पत्थर की लकीर बनकर जन-जन की मान्यताओं को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेट चुके हैं। आज

प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर रही हैं। अध्यात्म का स्वरूप विडंबना स्तर का बनकर रह गया है, फलस्वरूप उसका न किसी साधनारत पर प्रभाव पड़ता है और न वातावरण को उच्चस्तरीय बनाने में कोई सहायता ही मिल पाती है। इस दुर्गति के दिनों से यही उपयुक्त लगा है कि यदि विज्ञान के प्रत्यक्षवाद को, यथार्थता को जिस प्रकार अनुभव कर लिया गया है, उसी प्रकार अध्यात्म को भी यदि सशक्त एवं प्रत्यक्ष फल देने वाला माना जा सकने का सुयोग बन सके तो समझना चाहिए कि सोना और सुगंध के मिल जाने जैसा सुयोग बन गया। विज्ञान शरीर और अध्यात्म प्राणचेतना मिलकर काम कर सकें तो समझना चाहिए कि सब कुछ जीवन्त हो गया। एक प्राणवान दुनियाँ समग्र शक्ति के साथ नये सिरे से नये कलेवर में उद्भूत हो गई। न विज्ञान झगड़ालू रहा और अध्यात्म के साथ जो कुरूपता जुड़ गई है, उसके लिए कोई गुंजायश ही शेष रह गई है।

त्रिधा भक्ति एवं उसकी अदभुत सिद्धि

उपासना का अपना प्रयोगक्रम चला और उसे अनेकानेक परीक्षणों की कसौटियों पर कसे जाने के उपरांत सही एवं सशक्त पाया गया। इसी आधार पर अब यह सोचने, कहने और करने की व्यवस्था बन गई है कि संसार को एक नया संदेश दिया जा सके कि उपेक्षित, तिरस्कृत विडंबनाग्रस्त, अध्यात्म को यदि पुनर्जीवित किया जा सके तो विश्व चेतना के साथ एक उच्चस्तरीय माहौल जुड़ सकता है। तब भौतिक विज्ञान के लिए भी यह न सोचना पड़ेगा कि वह लाभ देने की तुलना में हानि, विनाश के संरजाम अधिक जुटाता है। इसलिए उसके उपयोग को आशंका एवं भयानकत्ता के साथ जुड़ा हुआ सोचा जाय। वस्तुतः बढ़े हुए विज्ञान के चरणों को आध्यात्मिक प्रगति के साथ जोड़ा जा सके तो हम भूतकाल के सतयुग की अपेक्षा और भी अच्छी स्थिति में पहुँच सकते हैं। यों जिस तरह नया आधार सँजोया गया है, उसे देखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि हम और भी अधिक ऊँचे स्तर का "महासतयुग" अगले दिनों अपनी इसी धरती पर उतारकर रहेंगे।

अपने समय का मनुष्य बहुत बौना है। इस बौनेपन को संकीर्ण स्वार्थपरता के रूप में भी लिया जा सकता है, होता यही रहा कि वैज्ञानिक उपलब्धियों को भी संकीर्ण-स्वार्थों के लिए तथाकथित समर्थ

लोगों ने प्रयुक्त किया और असंख्य समस्याएँ उत्पन्न कीं। ठीक इसी प्रकार प्रपंचों से बचकर जो अध्यात्म किसी लँगड़े-लूले रूप में शेष रहा गया था उसे भी अपने अथवा अपनों की संपन्नता, यशलिप्सा, असाधारण सफलता आदि के लिए ही प्रयुक्त किया जाता रहा। तथाकथित सिद्ध पुरुष भी अपने को वरिष्ठ सिद्ध करने और जिन कुपात्रों ने उन्हें जिस तिस प्रकार प्रसन्न कर लिया, उन्हें उस अध्यात्म द्वारा अधिकाधिक संपन्न बनाने में लगे रहे। उस अनुदान का उपयोग निजी विलासिता एवं महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के अतिरिक्त किसी लोकोपयोगी काम में न हो पाया।

अपने प्रयोग में आरंभ से ही यह व्रतशीलता धारण की गई कि परम सत्ता के अनुग्रह से जो भी मिलेगा उसे उसी के विश्व उद्यान को अधिक श्रेष्ठ समुन्नत सुसंस्कृत बनाने के लिए ही खर्च किया जाता रहेगा। अपना निजी जीवन मात्र ब्राह्मणेचित निर्वाह भर से काम चला लेगा। औसत नागरिक स्तर से बढ़कर अधिक सुविधा, प्रतिष्ठा आदि की किसी ललक को पास में न फटकने दिया जायेगा

इस प्रयोग के अंतर्गत अपना आहार-विहार, वस्त्र-विन्यास, रहन-सहन, व्यवहार, अभ्यास ऐसा रखा गया जो न्यूनतम था। आहार इतना सस्ता जितना कि देश के गरीब से गरीब व्यक्ति को मिलता है। वस्त्र ऐसे जैसे कि श्रमिक स्तर के लोग पहनते हैं। महत्त्वाकांक्षा न्यूनतम। आत्म प्रदर्शन ऐसा जिसमें किसी सम्मान, प्रदर्शन और अखबारों में नाम छपने जैसी ललक के लिए कोई गुंजायश न रहे। व्यवहार ऐसा जैसा बालकों का होता है। यह पृष्ठभूमि बना लेने के उपरांत शारीरिक और मानसिक श्रम इतना जितना कि कोई पुरुषार्थ परायण कर सकता है, इसे पूजा उपासना तो नहीं पर जीवन साधना अवश्य कहा जा सकता है।

इसके उपरांत उपासना की निर्धारित पद्धति की बारी आई। उसमें श्रद्धा विश्वास का गहरा पुट रहा और ध्यान रहा कि किसी भी अधिक आवश्यक काम के बहाने उसे किसी भी प्रकार चुकाये जाने का अवसर न मिलने पाये। चिंतन निजी लाभ का नहीं परमार्थ संपादन का ही रहा। यही कारण है कि अपने पास निजी कहे जाने योग्य एक कानी कौड़ी की भी कोई संचित संपदा नहीं है। पैतृक संपदा बड़ी थी पर उसका भी एक-एक पैसा उपयोगी परमार्थिक

इमारतों में लगा दिया गया। यह सारा जंजाल सिर पर से उतर जाने के उपरांत व्यामोह से विरक्त मन इतना खाली हो गया जिसका "वैक्युम" एक सशक्त चुंबक की तरह ईश्वरीय अनुकंपा की अजस्र वर्षा करने लगा। सामर्थ्य भी इतनी आ धमकी जिसके लिए अपनी ओर से नगण्य जितना ही प्रयत्न बन पड़ा।

अध्यात्म सिद्धियों के साथ जुड़ा हुआ माना जाता है। क्या वे हमें हस्तगत हुईं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है "हाँ," उनमें से यहाँ कुछ ऐसे प्रसंगों की ही चर्चा की जा सकती है जो सर्व विदित हैं, जिनके लिए हर किसी को अपनी आँखें और अपनी निज की जानकारी ही साक्षी रूप में पर्याप्त हो सकती है। उसके लिए किसी प्रकार की खोजबीन करने की कदाचित ही किसी को आवश्यकता पड़े।

युग साहित्य का सृजन इतनी बड़ी मात्रा में बन पड़ा। उसका इतनी भाषाओं में अनुवाद हुआ कि उस सारे संग्रह को किसी एक मनुष्य के शरीर जितना भारी तोला जा सकता है। इसी लेखन की हर पंक्ति ऐसी है जिसके संबंध में यही कहा जा सकता है कि किसी ने भारी खोज, गहन मंथन एवं व्यक्तिगत अनुभव की छत्रछाया में ही लिखा है। सामान्य बुद्धि यही कह सकती है कि एक व्यक्ति कम से कम पाँच जन्मों में अथवा पाँच शरीर से ही इतना साहित्य-सृजन कर सकता है। इस प्रयास को भी यदि कोई चाहे तो सिद्ध स्तर की गिन सकता है।

दूसरा कार्य है नव सृजन में कुछ कारगर भूमिका निभा सकने योग्य साथी सहयोगियों के विशालकाय परिकर का एकत्रीकरण। इन दिनों उन सभी की संख्या जो कुछ समय पूर्व पाँच लाख भर थी, अब बढ़कर पच्चीस लाख हो गई है। यह क्रम एक से पाँच, पाँच से पच्चीस, पच्चीस से एक सो पच्चीस, वाली गुणन-प्रक्रिया के आधार पर द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है और आश्वासन दे रहा है कि प्रगति रुकेगी नहीं, क्षेत्रों और देशों की परिधि लाँघते हुए विश्वभर में सज्जनों के संवर्धन की प्रक्रिया पूरी करेगी।

तीसरी सिद्धि है—दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष की असाधारण

प्रज्ञा केन्द्रों की स्थापना और उनकी गतिविधियों में नवसृजन की सत्प्रवृत्ति संवर्धन की रचनात्मक प्रवृत्तियों की अनवरत अभिवृद्धि।

जिन्होंने विनिर्मित प्रज्ञा पीठों की हजारों की संख्या में भव्य इमारतें देखी हैं, वे एक ही बात सोच सकते हैं कि यह अपने समय का अभिनव सृजन आन्दोलन है। चार धाम बनाने वालों को जितना श्रेय मिला उसकी तुलना में यह सृजन कार्य कितना महँगा और कितना विस्तृत बन पड़ा है, इसे एक आश्चर्य ही कहना चाहिये। प्रचलित कुरीतियों एवं अवांछनीयताओं के साथ टक्कर लेने की मोर्चेबंदी को दूसरे महाभारत के समतुल्य कहा जा सकता है।

ईर्ष्यालुओं, दुर्जनों और विद्वेषियों के आक्रमण सच्चाई को किस प्रकार हराने और तोड़ने में असफल होते हैं, इस तथ्य को मात्र वे लोग ही जानते हैं जो अपने निकट सम्पर्क में रहे और उन हरकतों से परिचित रहे हैं। चूँकि इन प्रसंगों की कभी चर्चा नहीं की गयी, प्रतिरोध के लिये एक पतली छड़ी तक नहीं उठायी गयी तो वे अनाचार कैसे प्रगट होते, जिन्हें दैवी प्रयोजनों में विश्वामित्र यज्ञ-ध्वंस षडयंत्र की ही उपमा दी जा सकती है। भक्त की रक्षा कैसे होती है, इसके प्रमाण में प्रहलाद की, गज की, द्रोपदी आदि की उपमा दी जाती है। एक कड़ी और भी इन्हीं दिनों की यह जुड़ सके तो कोई हर्ज नहीं। इसे भी एक सिद्धि कह सकते हैं।

सहायता के लिये किसी के आगे हाथ न पसारने के पीछे कोई अहंकार प्रदर्शन का भाव नहीं रहा किंतु यह एक प्रयोग परीक्षण था कि यदि भगवत् प्रयोजन के लिये कहीं से कोई प्रामाणिकता उभरे तो उसकी शक्ति और संपदा कितनी बढ़ जाती है ? इसके लिए पुरातन उदाहरण हनुमानजी का है। नया उदाहरण अपने समय के इस प्रयोग परीक्षण को समझा जा सकता है कि गंगा के याचना न करने पर भी हिमालय किस प्रकार कभी न सूखने वाली जलराशि प्रदान रहता है ? अपनाये गये क्रिया-कलापों में कितनी जनशक्ति की, कितनी धनशक्ति की, कितने साधनों की आवश्यकता पड़ती है और वह सुदामापुरी को द्वारिका पुरी में बदल जाने का कैसे उदाहरण बनती है ? इस दृश्य दर्शन को कोई एक प्रकार से सिद्ध स्तर की भी गिन सकता है।

अपनी अपेक्षा पिछड़ों, दुःखियारों, आवश्यकताओं की सहायता करना मानवी कर्त्तव्य है। गिरों को उठाने, उठों को उछालने में ही सच्चे सामर्थ्यवानों के हाथ खुलते और सहायता देते रहे हैं। इस लंबे जीवन की अवधि में कितनों की कितनी भौतिक एवं आत्मिक सहायता बन पड़ी, यह प्रसंग तो असाधारण रूप से विस्तृत है, पर उसकी चर्चा पर इसलिए प्रतिबंध लगा दिया है कि देने वाले का अहंकार उभर सकता है और लेने वाला किसी अहसान की अनुभूति में अपनी हेठी समझकर संकोचग्रस्त हो सकता है।

सिद्धियों के और भी किसी प्रत्यक्ष प्रमाण का परिचय प्राप्त करना हो तो उसी गणना में एक कड़ी यह भी है कि इन दिनों अस्सी वर्ष की आयु तक पहुँचने वाले प्रायः जराजीर्ण हो जाते हैं और मौत के घर जाने की तैयारी करने लगते हैं। पर यहाँ दृश्य दूसरा ही है, शरीर, मन, संकल्प और पुरुषार्थ उसी स्तर का परिचय दे रहा है जैसे कि वयोवृद्ध द्रोणाचार्य धनुष संधानने और लक्ष्य बेधने की शिक्षा अंत काल तक देते रहे। बुढ़ापे में ही जवानी जीवंत रह सकती है, इस स्तर का इस प्रयोक्ता का एक सघन स्वरूप यह भी है।

चर्चा को अप्रसांगिक, अनावश्यक और अहंकार स्तर का उद्धत उल्लेख न समझा जाय, इसलिए इस लंबे प्रसंग को उनके लिए शेष छोड़ दिया है, जो शरीर न रहने पर कुछ और खोजने बताने के लिए उत्सुक होंगे।

सच्चे अध्यात्मवाद में निहित विलक्षण शक्ति

यहाँ इतनी पँक्तियाँ इसलिए लिखनी पड़ी हैं कि शरीर बल, संपत्ति बल, बुद्धिबल, पद और सहायकों का बल बहुत समय से श्रेय-चर्चा के अधिकारी रहे हैं, पर भुलाया यह भी नहीं जाना चाहिए कि आध्यात्मिक साधना के सहारे उपजने वाला आत्मबल भी उपेक्षणीय नहीं है। वह न तो अप्रामाणिक है और न छदम। गड़बड़ी मात्र वहीं पड़ती है जहाँ उसके साथ जुड़े सिद्धान्तों को भुला दिया जाता है और कुछ मंत्र-तंत्रों से ही गगनचुंबी अपेक्षा की जाने लगती है और उसके सफल न होने पर निराशा एवं नास्तिकता उभरती है।

व्यक्तिगत लाभ तक अपने को सीमाबद्ध कर लेने वाला व्यक्ति

दुष्प्रवृत्तियाँ इसी आधार पर पनपती हैं; अध्यात्म क्षेत्र में भी जो लोग इसी रीति-नीति को अपनाते हैं, उनकी गरिमा भी एक प्रकार से समाप्त प्रायः हो जाती है। अपने लिए स्वर्ग मुक्ति, ऋद्धि-सिद्धि, चमत्कार प्रदर्शन, लोगों से पुजापा बटोरना, अपने को देवताओं का एजेण्ट बताकर उनके द्वारा ओछे लोगों की ऐसी मनोकामनाएँ पूरी कराने का आश्वासन देना जो उनकी पात्रता से बाहर है, ऐसी बातें जिनके मनोरथों में सम्मिलित हो जाएँ, समझना चाहिए कि उनका पूजा-पाठ भजन-कर्मकांड ओछे स्तर का है। उससे अध्यात्म पक्ष की गरिमा बढ़ेगी नहीं, वरन् घटेगी ही। ईश्वर के निकटवर्ती संबंधी बनना, उनको दर्शन देने के लिए बंधित करना, उनकी कचहरी के दरबारी बनकर सामीप्य-सान्निध्य जैसी मुक्ति का मजा लूटना, औरों से अपने को वरिष्ठ होने की मान्यता बनाना—ऐसा ओछापन है जो किसी भी वास्तविक भगवद् भक्त का अनुगामी बनने वाले को तनिक भी शोभा नहीं देता। यह सब लगभग ऐसा ही है जैसा कि सेठ, साहूकार, राजनेता, पंचतारा होटलों में मौज मजा करने वालों की मनःस्थिति होती है। अमीर लोग भी सेवक, चाकर, चारण और चमचों को इनाम-इकराम बाँटते रहते हैं। ईश्वर की हैसियत उन्हीं लोगों के समतुल्य बना देने का मनोरथ न तो किसी के अध्यात्मवादी होने का प्रमाण है और न ऐसे व्यक्ति को साधक-उपासक ही कहा जा सकता है।

वस्तुतः सच्चा अध्यात्मवादी लोकसेवी ही हो सकता है। जन साधारण की समस्याओं के समाधान में यदि अध्यात्म का प्रयोग नहीं होगा, तो श्रेष्ठता कैसे पनपेगी और दुष्टता कैसे निरस्त होगी ? फिर भगवान का उद्यान सूखता, कुम्हलाता और नष्ट-भ्रष्ट होता ही दीख पड़ेगा। यदि मूर्धन्यजन लोक मंगल को अपने कर्त्तव्य क्षेत्र में सम्मिलित न करेंगे, तो फिर उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, सुख-शांति और प्रगति के लिए नितांत आवश्यक सहयोग, सद्भाव, संयम, सदाचार का वातावरण ही न बन सकेगा। आज तो प्रत्यक्षवाद और बढ़े हुए वैभव से जो अनाचार बढ़ा है, उस पर अंकुश लगाने के लिए अध्यात्म तत्त्वज्ञान के पक्षधरों को अगले मोर्चे पर ही खड़ा होना चाहिए। उस दिशा में यदि वे उपेक्षा बरतें तो यही कहा जाएगा कि उनकी गणना विलास-वैभव जैसी महत्त्वाकांक्षाओं से पीड़ित ओछे

जनों से तनिक भी बढ़कर नहीं हो सकती। उन्हें ऋषिकल्प योगी, तपस्वियों के स्तर की मान्यता किसी भी प्रकार नहीं मिल सकती।

यह तथ्य अपने मार्गदर्शक ने उसी समय समझा दिये थे जबकि इस दिशा में बढ़ने का आदेश दिया था और उसकी शक्ति असाधारण होने का संकेत दिया था। सैद्धांतिक तत्त्वज्ञान की दृष्टि से तो यह समझा जा सकता है कि आदर्शवादिता के अभिवर्धन में अध्यात्म सहायक है, पर उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसमें कोई असाधारण शक्ति भी है, जो बुराईयों से निपटने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिए असाधारण परिवर्तन लाने में समर्थ हो सके। यदि वह विशेषता सिद्ध न की जा सकी तो उससे धर्मनिष्ठा के अतिरिक्त और कोई बड़ा प्रयोजन साधने की आशा नहीं की जा सकती। विशेषतया तब जबकि इन दिनों बढ़ते हुए पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने और उसे उतनी प्रचंडता के साथ सृजन प्रयोजनों के लिए नियोजित करना नितांत आवश्यक प्रतीत हो रहा है। वैयक्तिक प्रखरता उपलब्ध करने के लिए भी ऐसी ही शक्ति चाहिए। वह शक्ति इन दिनों पर्याप्त नहीं मानी जा सकती जो मात्र परलोक की, परोक्ष जगत की ही चर्चा करे और इस लोक को सुधारने, सँभालने, उठाने और सुख-शांति मय बनाने में काम न आ सके। इन दिनों तो विशेषतया ऐसी ही भक्ति की आवश्यकता है जो शक्ति से भी परिपूर्ण हो।

अपने मन में भी असमंजस बना ही रहा कि भक्ति का संबंध मात्र-भाव-संवेदनाओं तक ही सीमित तो नहीं है ? क्या उसकी पूर्णता शक्ति से संयुक्त होने में ही है ? जाँच-पड़ताल इसकी भी करनी चाहिए कि उसमें इतनी शक्ति है क्या ? जो भौतिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली उपलब्धियों की तुलना कर सके और साथ ही अब तक की विकृतियों को उलट कर उसके स्थान पर उपयोगी वातावरण प्रस्तुत सके। उपासना क्षेत्र में कदम बढ़े, पर यह अदम्य अभिलाषा भी बनी रही जैसा कि कहा जाता है, वैसी शक्ति भी अध्यात्म में होनी ही चाहिए, अन्यथा पटरी से उतरे इंजन को उठाकर फिर से यथास्थान रख सकने जैसा प्रयोग बन कैसे पड़ेगा ?

मार्गदर्शक ने उत्सुकता के औचित्य को समझा, साथ ही अपने निजी उत्कर्ष को भी उसमें जोड़ा कि समय का प्रवाह बदल सकने वाली किसी ऐसी शक्ति का उद्भव होना चाहिए, जो महाक्रांति स्तर

का युग बदलने जैसा महान परिवर्तन प्रस्तुत कर सके। सोचने वालों ने सोचा होगा कि किसी को तो आगे करना ही होगा। फिर जिसके पास जन्म-जन्मांतरों की सुसंस्कारिता संचित है, उसे ही क्यों न पूर्ण विश्वासी बनाया जाय। उसी का उदाहरण प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इस प्रत्यक्षवादी वातावरण की अनास्था को आस्था में बदलने की आवश्यकता को पूरा किया जाए। जिज्ञासु की उत्कण्ठा और शक्ति स्रोत की सहमति का समन्वय बन जाने से ऐसे कदम उठे और ऐसे प्रयोजन सिद्ध हुए, जिनके आधार पर भविष्य निर्माण की दिशा में कोई बड़ा प्रयोजन सधने की आशा किरणें उदय होने लगीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि इन पंक्तियों के लेखक ने भक्ति में शक्ति का सम्मिश्रण होने के कई अनुभव किये और चमत्कार देखें। इसका सिलसिला तब से चला, जब बिना किसी के सामने हाथ पसारे ऐसे प्रयोजन पूरे कर गुजरने के लिए असाधारण स्तर का जनबल और धनबल अभीष्ट था।

भक्ति से जुड़ी शक्ति

१९५८ के सहस्रकुंडीय महायज्ञ के सफल प्रयोग परीक्षण ने अपनी श्रद्धा-विश्वास असंख्य गुना बढ़ा दिया और बाद में निर्देशित हुए कामों का सिलसिला चल पड़ा, जिनका कि उल्लेख पहले भी हो चुका है। साहित्य सृजन, संगठन, केन्द्रों की खर्चीली व्यवस्था, अभावग्रस्तों की सहायता जैसे काम इस प्रकार चलते रहे, मानो वे सभी कार्य किसी दूसरे ने किये हों और अपने सिर पर श्रेय अनायास ही लद गया हो। यह वैयक्तिक सफलता का प्रसंग नहीं माना जाना चाहिए कि यह किसी के पुरुषार्थ का प्रतिफल सामने आया, वरन् यह समझा जाना चाहिए कि भक्ति के साथ शक्ति का भी अविच्छिन्न सामंजस्य हैं। निर्देशक शक्ति अपने संकेतों पर चलने वाले समर्पित व्यक्ति के लिए वैसी ही व्यवस्था भी करती है, जैसी कि मोर्चे पर लड़ने जाने वाले सैनिक के लिए आवश्यक सुविधा सामग्री का प्रबंध सेनापति या रक्षा विभाग द्वारा किया जाता है।

वैयक्तिक प्रयास से बन पड़ने में जिन्हें संभव समझा जा सकता है, उन छिटपुट कामों को संपन्न करने के उपरांत निर्देशक ने अपनी कठपुतली में इतनी क्षमता भर दी कि वह संकेतों के इशारे भर से

मनमोहक नृत्य अभिनय कर सके। इतन बन पड़ने के उपरांत वह भारी वजन लादा गया, जिसे संपन्न करने की कोई व्यक्ति विशेष कल्पना तक नहीं कर सकता, जिसे वह अदृश्य सत्ता ही कर सकती है, जिसने इतना बड़ा पसारा बनाकर खड़ा किया है और जो मनुष्य को एक सीमा तक नटखटपन बरतने तक की छूट देने के उपरांत जब देखती है कि उद्दंडता मर्यादा से बाहर जा रही है, तब उसके कान पकड़कर सीधी राह अपनाने के लिए बाधित ही नहीं, प्रताड़ित भी कर सकती है। इसी को युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। यही है इक्कीसवीं सदी-उज्जवल भविष्य की परिकल्पना, महाक्रांति की अभूतपूर्व परियोजना।

प्रस्तुत प्रयोजन के लिए जितना कुछ दृश्य रूप में मानवी प्रयत्नों के अंतर्गत संभव था, उसे युग निर्माण योजना के अंतर्गत पिछले कई वर्षों से किया जाता रहा है। उसमें जो सफलता मिली है, वह लगभग इसी स्तर की मानी जा सकती है जितनी कि मानवी पुरुषार्थ के अंतर्गत आने की परिकल्पना की जा सकती है। मानवी पुरुषार्थ और साधना के समन्वय से संसार के इतिहास में बहुत कुछ ऐसा बन पड़ा है, जिसे असाधारण भी कहा जा सकता है और आश्चर्यजनक भी। इसी आधार पर मिशन के दृश्य प्रयास जिस प्रकार बन पड़े हैं और उसके प्रतिफल जिस प्रकार के सामने आए, उन्हीं में इन्हें भी एक गिना जा सकता है।

किंतु जो काम बन पड़ा है, उसकी तुलना में हजार-लाख गुना और करने के लिए पड़ा है। वह अदृश्य जगत से संबंधित एवं सूक्ष्म स्तर का भी है। उसकी जड़ें चेतना क्षेत्र के सूक्ष्म जगत में असाधारण गहराई में घुसी हुई हैं। प्रस्तुत विकृतियाँ भी अभूतपूर्व हैं जो बदलाव, परिष्कार प्रस्तुत किया जाना है, वह भी ऐसा है जिसे अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है।

भूतकाल में भी अनीति का उन्मूलन और नीति का संस्थापन बराबर होता रहा है, पर वह परिवर्तन रहे क्षेत्र स्तर के ही हैं। भूतकाल में साधनों और वाहनों के अभाव में दुनियाँ इतनी निकट नहीं आई थी कि समस्त संसार को एक गाँव-कस्बे की तरह आँका जा सके और प्रगति और अवगति की समस्याएँ समस्त विश्व को थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ एक ही स्तर पर प्रभावित करें। इसलिए

अपने समय का व्यापक परिवर्तन इतने स्तर का, इतना उलझा हुआ एवं इतना विस्तृत है कि उसे अब तक के सुधार-परिवर्तनों की तुलना में अद्भुत, अनुपम एवं अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है। इसके लिए प्रयत्न भी हलके-फुलके करने से काम नहीं चलेगा, वरन वह इतने प्रबल, इतने प्रचण्ड, इतने सशक्त और इतने व्यापक होने चाहिए; जिन्हें असाधारण ही कहा जा सके।

विज्ञान के पक्षधरों ने दुनियाँ को अधिक सुखद बनाने के लिए परिकल्पनाएँ कम नहीं की हैं। उन्होंने असाधारण ढाँचें खड़े करने और अद्भुत प्रयोग करने, साधन जुटाने के लिए कम माथा-पच्ची नहीं की है, पर उन सबमें एक ही कमी रही है कि वे भौतिक परिप्रेक्ष्य में भौतिक उपचारों से ही सुधार लाने की बात पर विश्वास करते हैं। आकाश पर कब्जा कर लेने, समुद्र क्षेत्र पर आधिपत्य जमा लेने, प्रकृति-संपदाओं में से और भी अधिक छीन लेने, अनुपयुक्त को नष्ट करने वाले उपकरण ढूँढ़ने, संपदा-संवर्धन के नये स्रोत खोज निकालने जैसी योजनाएँ ही बन रही हैं, जिन्हें इक्कीसवीं सदी की समुन्नत योजनाएँ कहा जाता है। लोग कुछ स्तर तक विश्वास भी करते हैं कि भौतिक विज्ञान अति समर्थ है। उसने अब तक एक से एक बढ़कर उपलब्धियाँ प्रस्तुत की हैं और अपने आविष्कारों से जादू लोक जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं तो भविष्य के लिए उसकी जो योजनाएँ हैं, अवधारणाएँ हैं, वे क्यों पूर्ण न होंगी ?

इस आशा की एक झलक झाँकी के उपरान्त तत्काल दूसरा पक्ष समझ में आता है कि उसने भौतिक उपलब्धियों से कुछेक समर्थों के लिए बढ़-चढ़कर सुविधा-साधन उपलब्ध करने के अतिरिक्त और कोई ऐसा आधार प्रस्तुत नहीं किया है, जिससे मानसिक क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों का निराकरण हो सके और मानवी व्यवहार में सद्भावना का अभिवर्धन हो सके। ऐसी दशा में आगे भी विज्ञान के आधार पर जो और भी प्रगति होगी, वह वर्तमान प्रचलन को ही उत्तेजित करेगी। उसमें मानवी उत्कृष्टता का न तो कोई पक्ष जुड़ सका है और न ऐसा कुछ बन पड़ने की सम्भावना है, जिससे जन साधारण का मानवी गरिमा की मर्यादाओं में अनुबंधित किया जा सके। यदि ऐसा न बन पड़ा, तो संपन्नता और समर्थता के साथ-साथ

अनीति भी बढ़ती ही जायेगी और अंततः प्रस्तुत प्रगति योजनाएँ भयावह विपन्नता के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध न कर सकेंगी।

समस्याएँ प्रत्यक्षवाद के साथ जुड़ी हुई अनैतिकता के कारण उत्पंन्न हुई हैं। जड़ को काटे बिना विषवृक्ष की कुछेक पत्तियाँ तोड़ देने भर से क्या कुछ बनने वाला है ? एक नाम रूप वाली विपत्तियाँ दूसरे नाम रूप से सामने आएँ, इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक उपचारों से और कुछ हेर-फेर बन पड़ने वाला नहीं है।

स्मरण पुरातन सतयुग का आता है, जब साधनों की आज की तुलना में कहीं अधिक कमी थी, पर साथ ही सद्भावनाओं के समुन्नत रहने पर लोग उस स्थिति में भी इस प्रकार रह लेते थे, जिन्हें आज भी स्वर्गोपम होने का प्रतिपादन इतिहासकार करते हैं। उन परिस्थितियों का जन्म तपस्वियों द्वारा सूक्ष्म जगत का, चेतना-क्षेत्र का परिष्कार कर सकने पर ही संभव हुआ था। आज भी वही एक मात्र विकल्प है, जिसे अपनाकर मनुष्य की देवोपम सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को उभारा जा सकता है और इसी अवरोध के कारण उत्पन्न हुई सभी विकृतियों का सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

सतयुग-ऋषियुग था। ऋषियों के पास तपोबल ही एकमात्र शस्त्र था। वृत्तासुर के अनाचार पर दधीचि ऋषि की अस्थियों से बना वज्र इतना प्रचंड प्रहार कर सका था कि उसे इंद्र वज्र का नाम दिया गया और उसने वृत्तासुर की व्यापक अवांछनीयता को निरस्त करके रख दिया। अपने समय में विश्वामित्र ने भी ऐसा तपयज्ञ संपन्न किया था, जिससे उस समय की व्यापक असुरता का निराकरण संभव हुआ और त्रेता में सतयुग की सुसंस्कारिता वापिस लौट आई। भगीरथ का तप ऐसे ही सत्परिणामों का माध्यम बना था।

अभी कुछ दिन पूर्व योगी अरविंद, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस स्तर की आत्माओं ने प्रचंड अध्यात्म का मार्ग अपनाया और इसी कारण भारत को नया आश्वासन देने वाले दर्जनों महामानव एक साथ उत्पन्न हुए थे। बुद्ध की साधना को भी तत्कालीन वातावरण में भारी हेर-फेर कर सकने वाली माना जा सकता है।

विगत ५० वर्षों में इतने सहयोगी, अनुगामी उत्पन्न हुए हैं कि उनके ऊपर भौतिक स्तर पर महाक्रांति की जिम्मेदारी सौंपी जा

सकती है और हमें उच्चस्तरीय तपश्चर्या के लिए अवसर मिल सकता है। सो मार्गदर्शक के अनुसार सन् ६० के वसंत से अपने लिए एक मात्र कार्य सूक्ष्म जगत में भावनात्मक परिवर्तन लाने के लिए आज की परिस्थितियों के अनुरूप विशिष्ट स्तर की तप-साधना करने के लिए निर्देश मिला है। सो, उसी दिन से उस प्रयोग को तत्काल अपना लिया गया है। सैनिक अनुशासन पालने वाले के लिए और कोई ननुनच करने जैसा विकल्प है भी तो नहीं।

आश्वासन एवं अनुरोध

सन् ६० की इसी वसंत पंचमी से एकांत स्तर की समूचे समय चलने वाली-समग्र अध्यात्म साधना के हमारे भावी कार्यक्रम की जानकारी प्राप्त करने के उपरांत उन लोगों में कुछ हड़बड़ी उभरी दीख पड़ती है, जो युग निर्माण की अभिनव योजनाओं में अभी-अभी लगे हैं। इन्हें कठिनाई यह दीखती है कि समर्थ सेनानायक का सीधा सम्पर्क रहने पर जो प्रयास सफलतापूर्वक चल रहे थे, वे आगे किस प्रकार चल पायेंगे ? साधन कैसे जुटेंगे ? प्रोत्साहन और सहयोग कहाँ से मिलेगा ? ऐसे सभी लोगों तक संदेश पहुँचा दिया गया है कि सूक्ष्म स्तर की गतिविधियाँ अपना लेने पर भी हम अपने प्रत्यक्ष उत्तरदायित्वों को निभा सकने में भी समर्थ रहेंगे। वह कार्य स्थूल शरीर द्वारा अपनायी जाने वाली प्रत्यक्ष गतिविधियों जैसा भले ही न हो, पर सूक्ष्म चेतना में इतनी क्षमता मानी ही जानी चाहिए कि वह मात्र सूक्ष्म जगत तक ही सीमाबद्ध नहीं रह जाती प्रत्यक्ष जगत को प्रभावित करने में भी उसकी सशक्त भूमिका निभती रह सकती है।

शांतिकुंज हमारे प्रत्यक्ष शरीर के रूप में विद्यमान है तो फिर उससे संबंधित लोगों को आवश्यक प्रेरणाएँ और प्रकाश किरणें भी मिलती रहेंगी, जिनकी ऊर्जा और आभा से संसार भर के महत्त्वपूर्ण प्रयोजन गतिशील बने रहेंगे। अगले दिनों संभवतः किसी को हमारी अनुपस्थिति अखरेगी नहीं, वरन् वह दृश्य दृष्टिगोचर होगा, जिसमें एक बीज वृक्ष बनकर नये हजारों-लाखों बीज उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष भूमिका निभाने की कमी को कोई यह न माने कि मृत्यु हो गई। दिव्य तत्त्व कभी मरते नहीं। शरीर बदल लेने पर आत्मसत्ता का अस्तित्व नहीं बदल जाता। यदि वह सशक्त हो, तो स्थूल शरीर का भार एवं बंधन हट जाने से वह और भी अधिक गतिशीलता का

परिचय देने लगता है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में मात्र जन्मदिवस मनाये जाते हैं। मृत्यु दिवस की तो आश्विन पितृपक्ष में ही एक हलकी-फुलकी चर्चा होती है।

स्वामी राम तीर्थ ने मरने के कुछ ही समय पूर्व "मौत के नाम खत" नाम से एक दस्तावेज लिखा है। वह है तो लंबा और मार्मिक; पर उसका सारांश इतना ही है कि "शरीर का भार लदा रहने से मैं वह कर नहीं पा रहा हूँ जो कर सकता था। इसलिए इस वजन के अपने ऊपर से हटते ही हवा के साथ, चाँदनी के साथ, किरणों के साथ; वसंत वर्षा के साथ मिलकर बहुत उपयोगी बन सकूँगा और अधिक प्रसन्नता भरे उल्लास का रसास्वादन कर सकूँगा।"

अस्सी वर्ष जी लेने के उपरांत और अधिक जीने की इच्छा तो तनिक भी नहीं है; पर अपनी मर्जी से तो न जीना हो सका और न मरना हो सकता है। नियंता की मर्जी ही प्रमुख है। इतने पर भी यह निश्चित है कि शरीर के बिना भी बहुत कुछ करते बन पड़ेगा। इसका पूर्वाभ्यास इन दिनों चल रहा है। एकांत सेवन के साथ जुड़ी हुई निष्क्रियता दीख पड़ने पर भी यह जाँचा जा रहा है कि स्फूर्तिवान शरीर से लदे रहने पर जितना कुछ करते बन पड़ा करता था, अब उसमें कुछ कमी तो नहीं आ गई है। निष्कर्ष यही निकल रहा है कि इस स्थिति में सीमित को असीम बनाने में समर्थता का अधिक बढ़-चढ़ कर परिचय देने में सहायता ही मिल रही है। इस आधार पर विश्वास परिपक्व हो गया है कि जीवित रहने की अपेक्षा शरीर न रहने पर समर्थता एवं सक्रियता और भी अधिक बढ़ जाती है। इसी मान्यता के आधार पर प्रज्ञा परिजनों से विशेष रूप से कहा जा सकता है कि आँखों से न दीख पड़ने पर तनिक भी उदास न हों और निरंतर यह अनुभव करें कि हम उन्हें अधिक प्यार, अधिक उत्कर्ष और अधिक समर्थ सहयोग दे सकने की स्थिति में तब भी होंगे, जब यह पंच भौतिक ढकोसला मिट्टी में मिल जायेगा। जो पुकारेगा, जो खोजेगा उसे हम सामने ही खड़े और समर्थ सहयोग करते दीख पड़ेंगे।

अदृश्य अध्यात्म की सामर्थ दृश्यमान विज्ञान की तुलना म कम तो नहीं है, इस असमंजस को इतने दिनों जीकर, अभीष्ट प्रयोग की दिशा में निरत रहकर यह भली-भाँति जान लिया है कि आत्मबल

संसार के समस्त बलों की तुलना में अधिक सामर्थ्यवान है। विज्ञान की पहुँच मात्र जड़ पदार्थों तक है, जबकि अध्यात्म जड़ ही नहीं, चेतना को भी प्रभावित, परिष्कृत करने में समर्थ है। उसका अमृत, पारस, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि के नामों से आलंकारिक संबोधन किया जाता है। वह कथानक प्रकारांतर से सचाई के साथ जुड़ा हुआ है।

हमारी भविष्य वाणी

अब बात भविष्य की आती है, जिसमें प्रचलित दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन, अभावों का निराकरण, सदाशयता का अभिवर्धन प्रमुख है। यह कार्य विज्ञान तो कदाचित् कितने ही प्रयत्न कर लेने पर भी समय की माँग को पूरा न कर सकेगा। पर यह विश्वास किया जा सकता है कि चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता का असाधारण मात्रा में अभिवर्धन होगा, तो वे सभी समस्याएँ अनायास ही सुलझती चलेंगी, जिन्हें इन दिनों सर्वनाशी और खंड प्रलय जैसी विभीषिकाएँ माना जा रहा है।

चेतना में ऐसी शक्ति उभरने पर मनुष्य की भावना और क्रिया-प्रक्रिया में ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन होगा कि दुरुपयोग में लगी हुई क्षमताएँ सदुपयोग की ओर मुड़ चलेंगी और ऐसे सत्परिणाम उत्पन्न करेंगी, जिन्हें सतयुग की वापसी का नाम दिया जा सके।

विज्ञान आगे भी अनर्थ पैदा करता रह सकेगा; ऐसी आशंकाएँ किसी को भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि खनिज तेल, विद्युत उत्पादन जैसे स्रोत ही सूख जायेंगे, तब विज्ञान जीवित कैसे रह सकेगा ? लोगों को लौटकर फिर प्राकृतिक जीवन अपनाना पड़ेगा, जिसमें विकृतियों के अभिवर्धन की कोई गुंजायश ही नहीं है।

विज्ञान जीवित रहेगा; पर उसका नाम भौतिक विज्ञान न होकर अध्यात्म विज्ञान ही हो जायेगा। उस आधार को अपनाते ही वे सभी समस्याएँ सुलझ जायेंगी, जो इन दिनों अत्यन्त भयावह दीख पड़ती हैं। उन आवश्यकताओं को प्रकृति ही पूरा करने लगेगी, जिनके अभाव में मनुष्य अतिशय उद्विग्न, आशंकित, आतंकित दीख पड़ती है। न अगली शताब्दी में युद्ध होंगे, न महामारियाँ फैलेंगी और न जनसंख्या की अभिवृद्धि से वस्तुओं में कमी पड़ने के कारण चिंतित

होने की आवश्यकता पड़ेगी। जागृत नारी अनावश्यक संतानोत्पादन से स्वयं इंकार कर देगी और अपनी बर्बाद होने वाली शक्ति को उन प्रयोजनों के लिए नियोजित करेगी, जो समृद्धि और सद्भावना के अभिवर्द्धन के लिए नितांत आवश्यक है। नारी प्रधान इक्कीसवीं शताब्दी का वातावरण ऐसा होगा, जिसे सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा की संयुक्त शक्ति द्वारा अपनाया गया क्रिया-कलाप कहा जा सके। शिक्षा मात्र उदरपूर्णा न रहेगी, वरन् उसका अभिनव स्वरूप व्यक्तियों को प्रामाणिक, प्रखर एवं प्रतिभा संपन्न बनाने की अपनी जिम्मेदारी पूरी करेगा।

यह सब कैसे होगा, इसकी प्रत्यक्षदर्शी योजनाओं का स्वरूप पूछने या जानने की जरूरत नहीं है। अदृश्य जगत में संव्याप्त दैवी चेतना का अनुपात वर्तमान परिस्थितियों की प्राणचेतना के आधार पर असाधारण रूप में उभरेगा और ऐसे परिवर्तन अनायास ही करता चला जाएगा, जिसे वसंत का अभिनव अभियान कहा जा सके या उज्जवल भविष्य को साथ लेकर आने वाले "सतयुग की वापसी" कहा जा सके। इक्कीसवीं सदी का उज्जवल भविष्य इन्हीं आधारों को साथ लेकर अवतरित होगा। इसी की पृष्ठभूमि इन दिनों बन रही है।

मिशन की पत्रिकाएँ

(१) अखण्ड ज्योति (मासिक)

(धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का विज्ञान एवं तर्क-तथ्य-प्रमाण की कसौटी पर खरा चिंतन)

वार्षिक शुल्क-९६.००, आजीवन शुल्क-१८००.०० रुपया।

अखण्ड ज्योति अंग्रेजी (द्वि-मासिक)

वार्षिक शुल्क-६०.०० रुपया।

पता : अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २४०३९४०

(२) युग निर्माण योजना (मासिक)

(व्यक्ति, परिवार, समाज निर्माण एवं सात आंदोलनों की मार्गदर्शक पत्रिका)

वार्षिक शुल्क-४८.००, आजीवन शुल्क-९००.०० रुपया।

युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक)

(गायत्री महाविज्ञान, धर्म, अध्यात्म एवं युगानुकूल विचार परिवर्तन का मार्गदर्शन)

वार्षिक शुल्क-७५.००, आजीवन शुल्क-१५००.०० रुपया।

पता : युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

(३) प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक)

(युग निर्माण मिशन के क्रियाकलापों एवं मार्गदर्शन का समाचार-पत्र)

वार्षिक शुल्क-२४.०० रुपया।

पाक्षिक वीडियो पत्रिका : युग प्रवाह

(युग निर्माण मिशन के प्रमुख क्रियाकलापों की दृश्य-श्रव्य जानकारी)

वार्षिक शुल्क-१५००.०० रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तरांचल) फोन : ०१३३४-२६०६०२